

दक्षिण एशियाई इतिहास में जाति राजनीति और विभाजन

Aman^{1*}, Dr Harendra Kumar Singh^{2**},

1. Research Scholar,

2. Associate Professor

* Faculty of Social Science (Department of History), Purne University, Purne, Bihar, India

** K.B Jha Colleges, Katihar, Bihar, India

Corresponding Author: Aman

Email address: amangov1995@gmail.com

सारांश: पिछले लगभग पंद्रह वर्षों में, इतिहासकारों ने भारत और पाकिस्तान के 1947 में गठन के साथ समाप्त हुए विभाजन की घटना के जाति-राजनीति और जातिगत अनुभवों पर प्रभावों और परिणामों की गहराई से पड़ताल करने की कोशिश की है। इस विषय पर विद्वानों की बढ़ती रुचि के साथ-साथ, यह ऐतिहासिक बहस भी सामने आई है कि इन प्रभावों को सबसे सटीक रूप में कैसे प्रस्तुत किया जाए। यह लेख इस शोध कार्य की समीक्षा करता है, और यह दर्शाता है कि विभाजन, सत्ता के हस्तांतरण और बंगाल, पंजाब, यूनाइटेड प्रोविन्सेस (वर्तमान उत्तर प्रदेश) तथा व्यापक भारत में जाति-राजनीति व अनुभवों के आपसी संबंधों की विभिन्न व्याख्याएँ किस प्रकार उभरी हैं। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यद्यपि विद्वानों ने परस्पर विरोधी विवरण प्रस्तुत किए हैं, फिर भी इस विषय पर और अधिक अनुसंधान एवं चिंतन से ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि विभाजन और उपनिवेश से उत्तर-उपनिवेश की ओर संक्रमण की तत्कालीन परिस्थितियों के दौरान जाति-राजनीति किस प्रकार रूपांतरित हुई।

[Aman and Singh, H.K. दक्षिण एशियाई इतिहास में जाति राजनीति और विभाजन. *The International Journal of Interpretation, Observation and Analysis*, 2025; Volume 3, Issue 1:98-104 (July-September). ISSN 2349-0713, Peer-reviewed (online/offline), Refereed, Indexed and International Journal (Since 2013), Global Impact Factor: 5.776

परिचय

यद्यपि विभाजन और जाति-राजनीति दक्षिण एशियाई इतिहास के भीतर दो लंबे समय से स्थापित उप-क्षेत्र रहे हैं, लेकिन हाल के वर्षों में ही विद्वानों ने इन दोनों को एक साथ समझने के प्रयासों से उत्पन्न समस्याओं से जूझना शुरू किया है — भले ही कुछ मामलों में यह केवल आंशिक रूप से ही हुआ हो। यह आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि यह धारणा काफी हद तक स्वीकार्य रही है कि 1947 में ब्रिटिश भारत का भारत और पाकिस्तान में विभाजन मुख्यतः धार्मिक समुदायों और उनके प्रतिनिधियों के बीच राजनीतिक संघर्ष के कारण हुआ।

हालाँकि, समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम इस ऐतिहासिक क्षण में जाति के प्रश्न को जोड़कर देखने का प्रयास करते हैं। सीधे शब्दों में कहें तो, यदि विभाजन के मुख्य पात्र हिंदू, मुस्लिम या सिख माने जाएँ, तो दलित इस कहानी में कहाँ फिट होते हैं? चूंकि इस प्रकार के प्रश्नों की ओर विद्वानों का ध्यान हाल ही में गया है, इसलिए जाति-राजनीति और विभाजन पर वर्तमान इतिहासलेखन क्षेत्रीय और कालिक दृष्टि से असमान है, यद्यपि यह लगातार विस्तार भी पा रहा है। फिर भी, यह देखा जा सकता है कि एक प्रमुख समस्या उभर कर सामने आ रही है, जिसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: यदि विभाजन और इसके साथ-साथ सत्ता का हस्तांतरण मुख्य रूप से एक ओर साम्राज्यवादी शासन की समाप्ति और दूसरी ओर हिंदू और मुस्लिम (तदनुसार भारतीय और पाकिस्तानी) राष्ट्रवादों के बीच टकराव के परिणामस्वरूप

समझा जाता है, तो उन राजनीतिक विषयों के अनुभवों को कैसे समझाया जाए जो इस परिभाषित सांप्रदायिक रूपरेखा से बाहर आते हैं?

संक्षेप में, **दलितों ने विभाजन पर किस प्रकार प्रतिक्रिया दी?**

जैसा कि उर्वशी बुटालिया — जो इस अनदेखी की ओर ध्यान आकर्षित करने वाली प्रारंभिक विद्वानों में से एक थीं — ने कहा:

"विभाजन के इतिहास ने, हिंदुओं, सिखों और मुसलमानों पर लगभग विशेष रूप से केंद्रित रहकर, कई अन्य लोगों को अदृश्य बना दिया है। उनमें से एक इतिहास है अनुसूचित जातियों, या अछूतों का। हरिजन, दलित, अछूत — इस इतिहास के नायकों को आप चाहे जिस नाम से पुकारें — वे इस इतिहास-लेखन में भी, एक अर्थ में, लगभग 'अछूत' ही बने रहे हैं।" [1]

बुटालिया इस समझ तक अपनी एक व्यक्तिगत प्रक्रिया के माध्यम से पहुँचीं, जिसमें उन्होंने विभाजन को केवल धार्मिक पहचानों के संदर्भ में देखने की सोच को धीरे-धीरे त्यागा। 1980 के दशक में उन्होंने इस ऐतिहासिक घटना के संदर्भ में महिलाओं के अनुभवों को केंद्र में लाना शुरू किया। इसी सोच के अंतर्गत उन्होंने सवाल उठाया:

"क्या फिर विभाजन में हरिजनों का भी कोई इतिहास था?"

इस समीक्षा लेख का मेरा उद्देश्य है विभाजन के इतिहास में निहित इस समस्या की पड़ताल करना — संबंधित ऐतिहासिक शोध कार्यों के चयनित अवलोकन और उनके समेकन के माध्यम से। यह लेख कालानुक्रमिक, विषयगत और

क्षेत्रीय आधार पर विकसित होता है, और एक समेकित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

जाति राजनीति और विभाजन पर आधारित इतिहासलेखन स्पष्ट रूप से यह दर्शाता है कि विभाजन की तैयारी और उसके पश्चात ऐसे आंदोलनों में महत्वपूर्ण रूपांतरण हुए। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि विद्वानों ने इस इतिहास के बारे में विभिन्न, और कभी-कभी परस्पर विरोधी, दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। यह मूल्यांकन कि ये परिवर्तन **क्यों और कैसे** हुए — और उनका **अर्थ** क्या है — अब भी एक अधूरा कार्य है, और आशा की जाती है कि यह विषय भविष्य में और अधिक शोध के लिए प्रेरणा देगा।

विभाजन की ओर

बंगाल

जोया चटर्जी का प्रसिद्ध अध्ययन "*बंगाल डिवाइडेड: हिंदू कम्युनलिज्म एंड पार्टीशन, 1932-1947*" विभाजन और इसके कारणों के संदर्भ में जाति के प्रश्न को संबोधित करने वाले प्रारंभिक प्रयासों में से एक था।

हालाँकि उनके विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य यह उजागर करना था कि **बंगाली हिंदुओं ने अपने प्रांत के विभाजन में स्पष्ट रूप से रुचि ली थी** (और इस तरह इस झूठी धारणा को खारिज किया कि विभाजन केवल और पूरी तरह 'मुस्लिम अलगाव' का परिणाम था), फिर भी उन्होंने अपने व्यापक शोध के अंतर्गत यह भी पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत किया कि **बंगाली हिंदू जातीय अभिजात वर्ग** अपने से निम्न मानी जाने वाली जातियों की इच्छाओं को स्वीकारने और उन्हें साथ लेने को लेकर दिनोंदिन अधिक चिंतित हो रहे थे।

ये प्रयास 1920 के दशक से ही एक काल्पनिक "मुस्लिम अन्य" के खिलाफ '**हिंदू एकता**' बनाने की परियोजनाओं में दिखाई दिए। *हिंदू सभा आंदोलन*, जो निम्न जातियों और जनजातीय समुदायों के बीच मुस्लिम और ईसाई धर्मांतरण के डर से उत्पन्न हुआ था, इस दिशा में **अछूतता उन्मूलन, शुद्धि और संगठन (संगठनात्मकता)** के अभियानों का नेतृत्व करने लगा। राष्ट्रीय स्तर पर और बंगाल में भी, **हिंदू महासभा** ने विभिन्न जातियों को एकत्र कर एकजुट हिंदू समुदाय बनाने के उद्देश्य से अनेक गतिविधियाँ आयोजित कीं।

फिर भी, जैसा कि चटर्जी ने उचित रूप से संकेत किया, **एकीकृत हिंदू समुदाय बनाने का यह प्रयास न तो सहज था और न ही समस्यारहित।**

हालाँकि चटर्जी की शंकालु दृष्टिकोण के बावजूद — या शायद उसी कारण — उनके कुछ निष्कर्ष, विशेष रूप से उपर्युक्त उद्धरण से ठीक पहले दिए गए, थोड़े भ्रमित करने वाले प्रतीत होते हैं। कई स्थानों पर उन्होंने यह संकेत दिया कि **जिन समुदायों को जाति-आधारित अभिजात वर्ग ने अपनी नव-प्राप्त सद्भावना का केंद्र बनाया**, उन्होंने इस संपर्क का प्रायः सकारात्मक उत्तर दिया।

उदाहरणस्वरूप, उन्होंने लिखा:

"ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं है जो यह दर्शाए कि अनुसूचित जातियों ने उन्हें 'हिंदू समुदाय' में शामिल करने के इस प्रयास का विरोध किया हो।"

और आगे चलकर:

"... अक्सर निम्न जातियाँ, विशेष रूप से वे जो पहले से ही स्वयं को एक 'शुद्धतर' सामाजिक दर्जा दिलाने की माँग कर रही थीं, उस 'हिंदू पहचान' को कृतज्ञता के साथ स्वीकार करती प्रतीत होती थीं, जो उन्हें दी जा रही थी।"

ऐसे विरोधाभासी संकेतों ने संभवतः शुभो बसु को उनकी पुस्तक *Bengal Divided* की समीक्षा में यह कहने के लिए प्रेरित किया:

"... हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि चटर्जी ने भद्रलोक वर्ग द्वारा निम्न जातियों को संगठित करने की रणनीति को कुछ अधिक ही महत्व दे दिया है।"

भद्रलोक (उच्च जातीय शिक्षित वर्ग) की रणनीतियों को भले ही सही ढंग से विश्लेषित किया गया हो, लेकिन यह विश्लेषण निम्न जातियों द्वारा भद्रलोक प्रायोजित आंदोलनों में अपनी भागीदारी को कैसे देखा गया, इस पर ध्यान नहीं देता। [8]

इस प्रकार, बीसवीं सदी के मध्य के बंगाल में ऊँची और नीची जातियों के बीच संबंधों का स्वरूप एक विशेष रूप से जटिल और विवादास्पद विषय है। यह और भी अधिक उलझनभरा हो जाता है क्योंकि चटर्जी यह संकेत देती हैं कि **हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा चलाए गए शुद्धि और संगठन के प्रयासों का अनुसूचित जातियों पर प्रभाव पड़ा**, और उन्होंने स्वयं को बड़े 'हिंदू समुदाय' के साथ जोड़ना शुरू किया — विशेष रूप से 1946 के चुनावों में, जब बंगाल कांग्रेस ने अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित तीस में से केवल तीन सीटों को छोड़कर शेष सभी पर शानदार जीत हासिल की, जो कि 1936 के प्रदर्शन की तुलना में एक उल्लेखनीय सुधार था। [9]

हालाँकि, जैसा कि मैं आगे और विस्तार से बताऊँगा, इतिहासकारों ने इस बात पर भी प्रश्न उठाए हैं कि क्या 1946 के चुनाव परिणाम वास्तव में अनुसूचित जातियों की राजनीतिक पसंद का सटीक संकेतक है।

शेखर बंद्योपाध्याय की पुस्तक *Caste, Protest and Identity in Colonial India: The Namasudras of Bengal, 1872-47*, जो मुख्य रूप से नमशूद्र जाति आंदोलन पर केंद्रित है, ने चटर्जी के कार्यों में उठाए गए विषयों को आगे बढ़ाया और विस्तार से व्याख्या की।

शायद उनके शोध की सबसे उल्लेखनीय खोज यह थी कि, **भारतीय राष्ट्रवाद से लंबे समय तक अलग-थलग रहने के बाद**, अनुसूचित जातियों के नेता और उनके समुदाय 1930 के दशक के उत्तरार्ध से उन राजनीतिक आंदोलनों में शामिल हो गए जिन्हें वे पहले विरोध करते थे।

इसी कारण उनकी पुस्तक के अंतिम दो अध्यायों का शीर्षक था: 'अलगाव से एकीकरण की ओर'।

बंद्योपाध्याय ने अनुसूचित जातियों के मुख्यधारा में एकीकरण के अपने दावे को 1946 के चुनाव परिणामों पर जोर देकर समर्थन दिया, जब कांग्रेस ने अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित 30 में से अधिकांश सीटें जीत ली थीं। इसके साथ ही उन्होंने इस बात के भी महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किए कि अनुसूचित जातियाँ हिंदू महासभा और उससे संबद्ध संगठनों द्वारा प्रायोजित गतिविधियों और आंदोलनों से जुड़ती जा रही थीं, जिसे उन्होंने 'हिन्दूकरण' (Hinduisation) की प्रक्रिया कहा।

इसी के साथ, उन्होंने यह भी दर्शाया कि दलित किसानों का एक वर्ग वामपंथी नेतृत्व वाले आंदोलनों, विशेष रूप से तेभागा आंदोलन, में भी भाग ले रहा था।

बंद्योपाध्याय के कुछ निष्कर्षों को पार्थ चटर्जी के 1947 में बंगाल के विभाजन पर लिखे गए निबंध तथा बिद्युत चक्रवर्ती की बंगाल और असम में विभाजन से संबंधित अध्ययन में भी समर्थन मिला। [11]

बाद में उनकी एक अन्य कृति ने यह और स्पष्ट किया कि "विभाजन की राजनीति के संदर्भ में, 'धर्म' ने 'जाति' की जगह ले ली" — और वह समुदायों की सीमाओं को परिभाषित करने वाला मुख्य आधार बन गया, दलितों की सामूहिक कल्पना और राजनीतिक गतिविधियों में भी। [12]

अपने अनुसूचित जातियों के एकीकरण से संबंधित तर्क को और मज़बूती देते हुए, बंद्योपाध्याय ने यह भी प्रलेखित किया कि बंगाली दलितों ने कांग्रेस और हिंदू महासभा द्वारा बंगाल के विभाजन के लिए चलाए गए अभियानों में काफी समर्थन दिया, विशेष रूप से उन अभूतपूर्व सांप्रदायिक हिंसा की लहरों के दौरान, **जिनमें दलित दोनों रूपों में — अपराधी और पीड़ित — के रूप में शामिल थे।

इस संदर्भ में यह बात महत्वपूर्ण हो जाती है कि सुमित सरकार ने इस 'अलगाव से एकीकरण' के सीधे और सहज संक्रमण को लेकर चेतावनी दी। उन्होंने यह टिप्पणी महानंद हलदार द्वारा रचित 'गुरुचंद चरित' (1943) पर चर्चा करते हुए की — यह पुस्तक नमशूद्र मतुआ संप्रदाय के प्रमुख नेता गुरुचंद ठाकुर की एक हागियोग्राफी (महिमामंडन कथा) है। [13]

सुमित सरकार के अनुसार, इस ग्रंथ में इतनी सारी अंतर्विरोधी बातें हैं कि वे बंद्योपाध्याय द्वारा बताई गई एकता और सम्मिलन की प्रक्रिया से सहजता से मेल नहीं खातीं। [14-15]

इसी तरह, मसायुकी उसुडा का समकालीन प्रकाशित निबंध, जो नमशूद्र नेता जोगेंद्रनाथ मंडल पर आधारित था — जो कि बी.आर. अंबेडकर की ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन के बंगाल में प्रमुख नेता थे — का उद्देश्य था: "उन्हें भारतीय उपमहाद्वीप की मुख्यधारा की राजनीति से अलग-थलग पड़ने की प्रक्रिया को स्पष्ट करना।" [16]

उसुडा का तर्क यह है कि मंडल ने मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद को न तो स्वीकार किया, न ही उसमें सम्मिलित हुए, बल्कि इसके विपरीत, उन्हें मजबूरी में विभाजन की ओर 'धकेला' गया, और नमशूद्र आंदोलन को लगातार 'संवरण' (constrained) किया गया।

यूनाइटेड प्रोविन्सेस और अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य बंगाल में फेडरेशन के बारे में बंद्योपाध्याय के मूल्यांकन के विपरीत, ओवेन लिंच का आगरा में जाटव समुदाय पर किया गया नृविज्ञानात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि वहाँ की राजनीतिक नेतृत्व प्राथमिकता अंबेडकर की पार्टी की ओर अधिक थी।

हालाँकि, लिंच ने यह भी बताया कि भारत के अन्य हिस्सों की तरह, 1946 के चुनावों में जाटव नेतृत्व के भीतर विभाजन था — कुछ नेता कांग्रेस के प्रति निष्ठावान थे और कुछ फेडरेशन के।

भले ही उन्होंने फेडरेशन की वैचारिक प्रधानता का उल्लेख किया, लेकिन एक जाटव फेडरेशन उम्मीदवार की पराजय एक जाटव कांग्रेस उम्मीदवार के हाथों उन्होंने संयुक्त निर्वाचन व्यवस्था, फेडरेशन की अंतरिक गुटबाज़ी, संगठन की कमी, और वित्तीय अभाव से जोड़ा। [17]

लिंच के इस सीमित राजनीतिक विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए, रामनारायण एस. रावत के यूनाइटेड प्रोविन्सेस में फेडरेशन पर निबंध इस दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण विचलन दर्शाते हैं जिसे उन्होंने कहा: "दलितों के राष्ट्र के साथ एकीकरण का मुख्यधारा का इतिहास", जिसने उन वैकल्पिक रणनीतियों और राजनीतिक स्थितियों को मिटा दिया जिन्हें दलितों ने विभाजन के वर्षों के दौरान अपनाया था।" [18]

उनके शोध ने इस प्रचलित ऐतिहासिक समझ को चुनौती दी कि दलितों ने बड़े पैमाने पर कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रवादी आंदोलन का समर्थन किया, और यह दर्शाया कि उत्तर प्रदेश में दलितों ने अपनी एक अलग 'अछूत पहचान' को इतनी सशक्त रूप से व्यक्त किया कि वह कांग्रेस या राष्ट्रीय सहमति में समा नहीं सकी। [19]

लिंच की तरह, रावत ने भी यह दिखाया कि उत्तर प्रदेश में शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन का गठन जाटव और चमार जातियों की महासभाओं के कांग्रेस की दलित नीति से मोहभंग के बाद हुआ था।

फेडरेशन की बढ़ती लोकप्रियता यह संकेत देती थी कि दलित कांग्रेस से हटकर अंबेडकर के नेतृत्व में अपनी राजनीतिक स्वायत्तता को पहचानने और स्थापित करने की ओर अग्रसर हो रहे थे।

दिलचस्प बात यह है कि रावत ने यह भी दिखाया कि यहाँ तक कि कांग्रेस के भीतर हरिजन नेता जैसे कि जगजीवन राम भी पार्टी की बहुसंख्यक राय के आलोचक थे और उन्होंने कई

बार वही असंतोष जताया जो फेडरेशन द्वारा कांग्रेस की आलोचना में उठाए गए बिंदुओं के समान थे।

कैबिनेट मिशन द्वारा अनुसूचित जातियों को भारत की राजनीति में एक अलग राजनीतिक घटक के रूप में मान्यता न दिए जाने के बाद, रावत द्वारा फेडरेशन के सत्याग्रह, शक्ति-हस्तांतरण की चर्चाओं से बहिष्कार, और 1946 के प्राथमिक चुनावों के विक्षेपण से यह स्पष्ट होता है कि:

□ पूना समझौते की शर्तों ने फेडरेशन के प्रतिनिधियों के चुने जाने की संभावनाओं को बाधित किया, और

□ अंतिम चुनावी परिणाम दलित राजनीतिक इच्छाशक्ति का सटीक प्रतिबिंब नहीं थे।

वास्तव में, यही बात डॉ. अंबेडकर की प्रसिद्ध पुस्तक *What Congress and Gandhi Have Done to the Untouchables* का केंद्रीय विषय भी थी, जिसमें उन्होंने 1936 के चुनाव परिणामों का विक्षेपण करके कांग्रेस के इस दावे को खंडित किया था कि वह अछूतों का प्रतिनिधित्व करती है।

वास्तव में, जैसा कि रावत ने ज़ोर देकर कहा: यदि हम अंबेडकर और फेडरेशन द्वारा की गई उस आलोचना को नज़रअंदाज़ कर देते हैं — कि पूना समझौते की चुनावी व्यवस्था जाति-हिंदुओं की राजनीतिक शक्ति के पक्ष में पक्षपाती थी — तो हम इतिहास लेखन में जाति-हिंदू दृष्टिकोण के प्रभुत्व को ही बनाए रखते हैं। [20]

ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे बंधोपाध्याय ने अखिल भारतीय स्तर पर सत्ता के हस्तांतरण के दौरान दलित राजनीति में उत्पन्न संकट को लेकर रावत की आलोचनाओं को पहले ही भाँप लिया था, और उन्होंने 1946 के चुनावों में फेडरेशन के निराशाजनक प्रदर्शन के लिए एक *वैकल्पिक व्याख्या* प्रस्तुत की।

उनके अनुसार, यह संकट सिर्फ उपनिवेशवादी संरक्षण (colonial patronage) का नहीं था, बल्कि प्रतिनिधित्व और वैधता का भी था।

हालाँकि उन्होंने यह स्वीकार किया कि फेडरेशन का यह दावा — कि 1946 के चुनावों में लागू संपत्ति-आधारित मतदाता योग्यता ने अधिकांश दलितों को मताधिकार से बाहर कर दिया — कुछ हद तक सही था, फिर भी उन्होंने पूना समझौते की संयुक्त निर्वाचन प्रणाली के चुनाव परिणामों पर प्रभाव को दरकिनार कर दिया।

इसके विपरीत, उन्होंने इस बात पर अधिक बल दिया कि फेडरेशन की असफलता का कारण उसकी लगभग पूर्ण संगठनहीनता, और ऐसा कार्यक्रम था जिसमें आम जन के लिए कोई विशेष अपील नहीं थी। [21]

इस प्रकार, उनका दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से मेंडेलसॉन और विसियानी के विचारों से भिन्न था, जिन्होंने कहा था कि:

"अंबेडकर की राजनीतिक असफलता का कारण उनकी अपनी सीमाएँ नहीं थीं।" [22]

दूसरी ओर, क्रिस्टोफ़ जाफ़ेलॉट ने बंधोपाध्याय के मूल्यांकन से सहमति जताते हुए यह तर्क दिया कि फेडरेशन की पराजय उसकी संगठनात्मक कमजोरी का ही परिणाम थी। [23]

इसके अतिरिक्त, और अपने अन्य कार्यों की भावना के अनुरूप, बंधोपाध्याय ने यह भी ज़ोर दिया कि फेडरेशन को राष्ट्रवाद की लोकप्रिय अपील और ब्रिटिश शासन को समाप्त करने की देशभक्ति की भावना, तथा कांग्रेस द्वारा दलितों को अपने पक्ष में लाने के बहुपक्षीय प्रयासों से कड़ी टक्कर मिल रही थी। [24]

इसीलिए उन्होंने फेडरेशन की चुनावी हार को उसकी आंतरिक कमज़ोरियों और कांग्रेस की वैचारिक अपील का प्रभावी ढंग से विरोध न कर पाने की असमर्थता के रूप में देखा।

इस तर्क पर अनुपमा राव ने निम्नलिखित प्रतिक्रिया दी: इसके विपरीत, अनुपमा राव ने इस बात पर ज़ोर दिया कि दलित एक "असंभव स्थिति" में फँसे हुए थे, क्योंकि वे भौगोलिक रूप से बिखरी हुई एक अल्पसंख्यक आबादी थे, जिनके पास जाने के लिए कोई दूसरा स्थान नहीं था... [26]

उनका तर्क यह था कि — जहाँ अंबेडकर यह कल्पना कर सकते थे कि मुस्लिम अल्पसंख्यक 'मुस्लिम राष्ट्रीयता' में बदल सकता है — चाहे वह पाकिस्तान की कल्पना हो या भारत का विभाजन — वहीं दलितों के लिए ऐसा कोई विकल्प संभव नहीं था, क्योंकि वे ब्रिटिश भारत के किसी भी प्रांत में बहुसंख्यक नहीं थे।

विभाजन के पश्चात

पंजाब

यह आश्चर्य की बात है कि पंजाब विभाजन के इतिहास लेखन में इतनी प्रमुखता रखने के बावजूद, इस क्षेत्र में दलितों की राजनीतिक इतिहास पर अभी भी विस्तार से अध्ययन की आवश्यकता है।

मार्क जुर्गेन्समायर का आदि धर्म आंदोलन पर किया गया अध्ययन — ठीक उसी तरह जैसे लिंच का आगरा के जाटवों पर — यह दर्शाता है कि 1940 के दशक में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया, जिसे उन्होंने कहा: "अंबेडकर विकल्प" (The Ambedkar Alternative)।

आदि धर्म के नेता अंबेडकर की फेडरेशन की ओर आकर्षित हुए, और परिणामस्वरूप, फेडरेशन की बढ़ती लोकप्रियता ने न केवल आदि धर्म आंदोलन के पतन की शुरुआत की, बल्कि नेतृत्व को भी राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्नों में अधिक व्यस्त कर दिया।

हालाँकि, ब्रिटिश शासन के अंतिम दो दशकों की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए, जुर्गेन्समायर ने यह दावा किया:

"स्वतंत्रता की अंतिम लड़ाई और पंजाब के विभाजन से उत्पन्न त्रासदी के दौरान, निम्न जातियों से जुड़े मुद्दे विस्थापन और पुनर्वास के अराजक वातावरण में लगभग पूरी तरह से भुला दिए गए।" [27]

हालाँकि, रावत ने इस 'भूल' को उचित रूप से चुनौती दी है, और यह स्पष्ट किया है कि विभाजन के दौरान और उसके बाद पंजाब में जाति-राजनीति का विस्तृत इतिहास अभी भी अपने इतिहासकार की प्रतीक्षा कर रहा है। [28]

इन्हीं विषयों को आगे बढ़ाते हुए, रविंदर कौर ने 2000 के दशक की शुरुआत में दिल्ली की विभाजन पुनर्वास कॉलोनियों में रहने वाले लोगों के बीच मैदान स्तर पर अनुसंधान (फील्डवर्क) किया। इस शोध के माध्यम से उन्होंने पाया कि दलितों को प्रवासन की प्रमुख कहानियों से बाहर रखा गया, जिसे उन्होंने 'वृत्तांत की अनुपस्थिति' (narrative absence) कहा। [31]

महत्वपूर्ण बात यह है कि कौर ने तर्क दिया कि "विस्थापन का सामान्य अनुभव न तो जातिगत भेदभाव को समाप्त कर पाया और न ही उसे अप्रासंगिक बना सका," जो उस सामान्य धारणा के लिए एक महत्वपूर्ण सुधार था कि दर्दनाक अनुभव सामाजिक श्रेणियों को ध्वस्त कर देते हैं। [32]

उन्होंने यह दिखाया कि दिल्ली में आए अछूत प्रवासी लगभग स्वाभाविक रूप से अपने ऊँची जातियों के हिंदू समकक्षों से अलग कर दिए गए, और इसका कारण था भारतीय सरकार की पुनर्वास नीतियाँ, जो गणराज्य के पहले दो दशकों में लागू की गई थीं।

नतीजतन, कौर ने यह प्रलेखित किया कि यह भौतिक अलगाव उस लोकप्रिय विमर्श में भी परिलक्षित हुआ, जिसे उन्होंने 'मास्टर नैरेटिव' (master narrative) कहा — जो प्रमुख रूप से पुरुष, उच्च जातीय और मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से बना था, और जिसमें दलितों के अनुभव की विशिष्टता व भिन्नता पूरी तरह अनुपस्थित थी।

कौर का फील्डवर्क कई विरोधाभासी लेकिन मूल्यवान तथ्यों को उजागर करता है कि दलितों ने पुनर्वास के कठिन वर्षों को कैसे संभाला।

उदाहरण के लिए:

- रेहगार पुरा (जहाँ कौर ने फील्डवर्क किया), वहाँ एक देवी का मंदिर मौजूद था, जो पंजाबी उच्च जातीय प्रवासियों में लोकप्रिय थी — जबकि यही इलाका था जहाँ से कांशीराम ने बहुजन समाज पार्टी की ऊँची जातियों के विरुद्ध मुहिम की शुरुआत की थी।
- कई दलित प्रवासियों ने कांग्रेस पार्टी के प्रति गहरी कृतज्ञता जताई, कि उसने उनके पुनर्वास में मदद की। यह प्रतिक्रिया उच्च जातीय पंजाबी प्रवासियों

से पूर्णतः भिन्न थी, जिन्होंने सरकार की भूमिका को कम करके आँका।

- यह कृतज्ञता और भी आश्चर्यजनक थी, क्योंकि उच्च जातीय शरणार्थियों की तुलना में दलितों पर सरकारी व्यय बेहद कम था।

एक और विरोधाभासी उदाहरण कौर के साक्षात्कार में सामने आया, जहाँ कनोजिया नामक एक सरकारी कर्मचारी, जो आरएसएस (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) का समर्थक था, और आर्य समाज तथा नव-हिंदू पहचान से जुड़ाव रखता था — उसे ऑफिसर्स यूनियन में शामिल होने की अनुमति नहीं दी गई, भले ही वह ग्रेड II अधिकारी था। उसे मजबूरन शेड्यूल्ड कास्ट्स/शेड्यूल्ड ट्राइब्स यूनियन का नेतृत्व करना पड़ा, जिसमें झाड़ू लगाने वाले, चपरासी और ऑफिस बॉय जैसे ग्रेड IV कर्मचारी शामिल थे।

इस प्रकार, कौर का कार्य यह इंगित करता है कि जातिगत भेदभाव उन्हीं प्रक्रियाओं के माध्यम से जीवित रहा, जिनसे सामान्यतः सामाजिक असमानता को कम होने की आशा की जाती है।

उर्वशी बुटालिया के अध्याय में उठाए गए सवाल को आगे बढ़ाते हुए, ग्यानेन्द्र पांडे की हाल की, और भावनात्मक रूप से शीर्षकयुक्त अध्ययन "*Nobody's People*" — जो पंजाबी दलितों के विभाजन अनुभव पर केंद्रित है — इस सामान्य धारणा को चुनौती देता है कि दलित विभाजन की हिंसा से अधिकांशतः अछूते रहे।

पांडे के लेख में यह देखा गया कि विभाजन के दौर में पंजाबी 'गाँव समुदाय' की पुनर्चना किस तरह हुई, और वह निष्कर्ष निकालते हैं कि:

"उपलब्ध साक्ष्य स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि विभाजन और स्वतंत्रता ने दलितों को लगभग किसी भी रूप में अछूता नहीं छोड़ा — यहाँ तक कि जबरन बेदखली और निर्वासन में भी नहीं।" [33]

उदाहरणस्वरूप, उन्होंने यह दस्तावेजीकरण किया:

- 1947 के तुरंत बाद दलित शरणार्थियों का बड़े पैमाने पर प्रवास
- इस्लाम और ईसाई धर्म में जबरन या परिस्थितिजन्य धर्मांतरण के अनेक मामले
- भूमि और संपत्ति को लेकर संघर्ष, जिसमें दलितों को "अपने ही घर में शरणार्थी" की स्थिति में ला खड़ा किया गया
- पुनर्वास कार्यक्रमों में दलितों को कितना लाभ मिला, इस पर विरोधाभासी साक्ष्य
- और कुछ दलित समुदायों को 'अपराधी जनजाति' के रूप में जानबूझकर पुनः वर्गीकृत किया जाना

भविष्य में शोध की संभावनाएँ

जैसा कि उपरोक्त ऐतिहासिक शोध सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है, जाति-राजनीति और विभाजन को लेकर कोई एकसमान और

सर्वमान्य कथा मौजूद नहीं है। जहाँ कुछ इतिहासकारों ने यह देखा कि दलित भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्यधारा में एकीकृत हो गए, वहीं अन्य विद्वानों ने यह दर्ज किया कि दलित नेतृत्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियों से अलग-थलग ही बना रहा, और उसने एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा को अपनाया जो कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय एकता के प्रयासों से भिन्न थी।

जहाँ बंगाल में, दलित विभाजन के साथ हुई सांप्रदायिक हिंसा में केंद्रीय भूमिका में थे, वहीं पंजाब में, वे इन घटनाओं से काफी हद तक दूर प्रतीत होते हैं।

फिर भी, एक बात लगभग सर्वसम्मति से स्वीकार की गई है कि

— जाति की राजनीति और अनुभव को, धार्मिक संघर्ष की राजनीति के रूप में विभाजन की व्याख्या और व्यवहारिक क्रियान्वयन दोनों में, किसी न किसी रूप में दबा दिया गया। लेकिन अब तक विद्वानों ने इस "दबाव" या "विलयन" के वास्तविक अर्थ पर गहराई से विचार नहीं किया है। उदाहरणस्वरूप:

- क्या इस अनदेखी से हमारे सामूहिक रूप से विभाजन की समझ और स्वतंत्रता संग्राम की परिणति — दो राष्ट्रों के गठन — की व्याख्या बदलती है?
- क्या जातिगत प्रश्न का यह अपविलयन (sublation), विभाजन की अत्यधिक सांप्रदायिक संरचना का अनिवार्य हिस्सा था?
- क्या बंगाल में हिंदू साम्प्रदायिकतावादी मांगों के पीछे "जातिगत प्रश्न का राष्ट्रवादी समाधान" एक गहरे स्तर की आधारशिला थी?
- क्या विभाजन उतना ही जातिगत राजनीति से जुड़ा था, जितना कि धार्मिक समुदायों की राजनीति से?

इन प्रश्नों के पर्याप्त उत्तर शायद तभी सामने आ सकेंगे जब भविष्य में और अधिक शोध कार्य इन विषयों पर केंद्रित होंगे — विशेष रूप से उन सवालों पर जो वर्तमान विद्वत्तापूर्ण लेखन द्वारा संकेतित तो किए गए हैं, पर पूरी तरह से उच्चरित नहीं।

हमें उदाहरण के तौर पर और अधिक जानने की आवश्यकता है:

- वे दलित, जो विभाजन के बाद "सीमा के गलत पक्ष" (पूर्व और पश्चिम पाकिस्तान) में रह गए — उनका क्या हुआ?
- जो "सही पक्ष" में रह गए, क्या उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता और आज़ादी उनकी अपेक्षाओं पर खरी उतरी?
- क्या हिंदू और मुस्लिमों के बीच हुई हिंसा, और उससे उत्पन्न विस्थापन और पुनर्वास की त्रासदी, ने

जाति-हिंदू और अनुसूचित जातियों के बीच के अंतर को मिटा दिया?

- क्या विभाजन की हिंसा ने दलितों और मुसलमानों के बीच मौजूद लंबे समय की एकजुटता को तोड़ दिया?
- क्या भारत और पाकिस्तान में, विशेषकर पंजाब और बंगाल जैसे विभाजित क्षेत्रों में, जो राजनीतिक व्यवस्थाएँ सत्ता में आईं, उन्होंने वे माँगें पूरी कीं जो दलित नेताओं ने औपनिवेशिक काल के अंतिम वर्षों में उठाई थीं?

यह आशा की जाती है कि भविष्य का शोध इन सभी सवालों के उत्तर प्रदान करेगा, जिससे न केवल हमारी विभाजन की ऐतिहासिक समझ अधिक लोकतांत्रिक होगी, बल्कि मूल रूप से परिवर्तित भी हो सकती है।

References:

1. उर्वशी बुटालिया, *The Other Side of Silence: Voices From the Partition of India* (नई दिल्ली: वाइकिंग, 1998), पृ. 223.
- 2-3. वही, पृ. 223.
- 4-9. जोया चटर्जी, *Bengal Divided: Hindu Communalism and Partition, 1932-47* (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994).
10. शेखर बंद्योपाध्याय, *Caste, Protest and Identity in Colonial India: The Namasudras of Bengal, 1872-47* (रिचमंड: कर्ज़न प्रेस, 1997), पृ. 173.
11. पार्थ चटर्जी, *The Present History of West Bengal*.; बिद्युत चक्रवर्ती, *The Partition of Bengal and Assam, 1932-47*.
12. शेखर बंद्योपाध्याय, *Caste, Culture and Hegemony* (नई दिल्ली: सेज, 2004), पृ. 192.
13. सुमित सरकार, *Beyond Nationalist Frames* (दिल्ली: परमानेंट ब्लैक, 2002), पृ. 76.
- 14-15. ओ. मेंडेलसॉन और एम. विसियानी, *The Untouchables* (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998).
16. मसायुकी उसुडा, *Pushed towards the Partition*, in हि. कोटानी (संपा.), *Caste System, Untouchability and the Depressed* (नई दिल्ली: मनोहर, 1997), पृ. 221.
17. ओ.एम. लिंग, *The Politics of Untouchability* (न्यूयॉर्क: कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969), पृ. 89.
- 18-20. रामनारायण एस. रावत, 'Making Claims for Power' और 'Partition Politics and Achhut Identity'.

19. उर्वशी बुटालिया, *The Other Side of Silence: Voices From the Partition of India* (नई दिल्ली: वाइकिंग, 1998), पृ. 223.
20-23. वही, पृ. 223.
- 24-29. जोया चटर्जी, *Bengal Divided: Hindu Communalism and Partition, 1932-47* (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994).
30. शेखर बंद्योपाध्याय, *Caste, Protest and Identity in Colonial India: The Namasudras of Bengal, 1872-47* (रिचमंड: कर्ज़न प्रेस, 1997), पृ. 173.
31. पार्थ चटर्जी, *The Present History of West Bengal*; बिद्युत चक्रवर्ती, *The Partition of Bengal and Assam, 1932-47*.
32. शेखर बंद्योपाध्याय, *Caste, Culture and Hegemony* (नई दिल्ली: सेज, 2004), पृ. 192.
33. सुमित सरकार, *Beyond Nationalist Frames* (दिल्ली: परमानेंट ब्लैक, 2002), पृ. 76.



INTERNATIONAL JOURNAL OF
INTERPRETATION
OBSERVATION & ANALYSIS